पंचम अध्याय

जीवनीपरक उपन्यास 'विवेकानन्द' में संस्कृति दर्शन

पंचम अध्याय

'जीवनीपरक उपन्यास 'विवेकानन्द' में संस्कृति दर्शन

विषय प्रवेश

5.1 संस्कृति का स्वरूप एवं व्याप्ति

5.1.1 स्वरूप

अ) अर्थ

ब) परिभाषा

5.1.2 व्याप्ति

5.2 संस्कृति का महत्त्व

5.3 'विवेकानन्द' उपन्यास में संस्कृति दर्शन

5.3.1 भारतीय संस्कृति

5.3.2 विदेशी संस्कृति

निष्कर्ष

पंचम अध्याय

जीवनीपरक उपन्यास 'विवेकानन्द' में संस्कृति दर्शन

विषयप्रवेश :

डॉ. भटनागर जी का 'विवेकानन्द' उपन्यास महान युगपुरुष स्वामी विवेकानन्द के जीवन को लेकर लिखा गया है। स्वामीजी को 'भारतीय नवजागरण के अग्रदूत' के रूप में देखा जाता है। स्वामीजी का आध्यात्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र के साथ-साथ सांस्कृतिक क्षेत्र पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। इसलिए प्रस्तुत उपन्यास को जीवनीपरक के साथ सांस्कृतिक उपन्यास भी कहा गया है। अतः इस उपन्यास में भारतीय और विश्व संस्कृति के दर्शन होते है।

लेखक ने उपन्यास के माध्यम से समाज के सामने आदर्श व्यक्तित्त्व खड़ा किया है। जिससे मानव को जीवन में आदर्शवत जीवनमूल्य और संस्कृति का दर्शन करायें जा सके। किसी भी संस्कृति के निर्माण में उस वक्त के मानव जीवन में व्याप्त जीवनमूल्यों की अग्रणी भूमिका होती है। भाषा, काव्य, संगीत, कला, शिल्प, धर्म, तत्त्वज्ञान, विज्ञान, तंत्रज्ञान इ. संस्कृति के विभिन्न अंगों का निर्माण मानव के हृदय में व्याप्त प्रेम, विश्वास, श्रमप्रतिष्ठा, सर्जनशीलता, विवेक, औदार्य, शांती, सेवावृत्ति, वैज्ञानिक दृष्टिकोन, सौंदर्यपिपासा आदि जीवनमूल्यों से ही हुआ है। जीवनमूल्य पेड़ की जड़ों के समान है। जिसके आधार पर संस्कृति का पेड़ खड़ा हो पाता है। जीवनमूल्य रूपी जड़े जितनी गहरी और मजबूत होगी, संस्कृति रूपी पेड उतना ही विशाल और समृद्ध होगा। आगे संस्कृति के बारे में पर्याप्त जानकारी देने का प्रयास किया गया है।

5.1 संस्कृति का स्वरूप एवं व्याप्ति :

5.1.1 स्वरूप :

संस्कृति के स्वरूप को जानने के लिए हमें संस्कृति शब्द के अर्थ और परिभाषा को समझना होगा।

अ) अर्थ :

'संस्कृति' शब्द का निर्माण 'संस्कार' एवं 'कृति' इन शब्दों के मिलाप से हुआ है। संस्कार का अर्थ है, ''मन, रूचि, आचार-विचार आदि को परिष्कृत तथा उन्नत करने का

कार्य।''[1] और संस्कृति का शब्दगत अर्थ है, ''शुद्धता, सफाई या सुधार।''[2] अंग्रेजी में संस्कृति शब्द के लिए पर्यायी शब्द कल्चर[3] है। जो कल्टीवेशन[4] शब्द से संबंधित है। जिसका अर्थ होता है, जमिन की मशागत करना और उसे समृद्ध बनाना।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते है कि, ''संस्कृति उन गुणों का समुच्चय है, जिसके द्वारा व्यक्ति व समाज परिष्कृत एवं समृद्ध बनता है।

ब) परिभाषा :

आलोचकों ने 'संस्कृति' की अनेक परिभाषाएँ दी हैं। इन परिभाषाओं के माध्यम से हम संस्कृति के स्वरूप को समझ सकते हैं। जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :-

1. हिंदी साहित्य कोश - भाग 1 :

''संस्कृति का अर्थ चिंतन तथा कलात्मक सृजन की वे क्रियाएँ समझनी चाहिए, जो मानव व्यक्तित्त्व और जीवन के लिए साक्षात उपयोगी न होते हुए उसे समृद्ध बनाने वाली हैं।''[5]

2. नालंदा विशाल शब्दसागर :

''किसी व्यक्ति, जाति, राष्ट्र आदि की वे सब बातें उसके मन, रूचि, आचार-विचार, कला-कौशल और सभ्यता के क्षेत्र में बौद्धिक विकास की सूचक होती हैं, संस्कृति कहलाएगी।''[6]

3. डॉ. देवराज :

''संस्कृति तत्त्व वह है, जो हमारे चेतना-मूलक जीवन एवं व्यक्तित्त्व को समृद्ध, सुंदर और उँचा बनाता है। जो हमारे जीवन को परिष्कृत, विवेकसंपन्न, उदार और सृजनशील बनाता है।''[7]

---

1. नवलजी (संपादक), नालंदा विशाल शब्दसागर, (दिल्ली, आदर्श बुक डेपो, प्र. सं. 1951), पृ. 1159.
2. वही, पृ. 1159.
3. Culture.
4. Cultivation.
5. डॉ. धीरेंद्र वर्मा (संपादक), हिंदी साहित्यकोश भाग 1, (वाराणसी, ज्ञानमंडल लिमिटेड, द्वितीय सं.1964), पृ. 868.
6. नवलजी (संपादक), नालंदा विशाल शब्दसागर, (दिल्ली, आदर्श बुक डेपो, प्र. सं. 1951), पृ. 1159.
7. डॉ. देवराज, साहित्य समीक्षा और संस्कृतिबोध, (नई दिल्ली, दि मैकमिलन, प्र. सं. 997), पृ. 03.

4. डॉ. भगवतशरण उपाध्याय :

"जब आदमियों का एक दल या समाज एक ही रीति से कुछ करता है, एक ही विश्वास रखता है, एक ही प्रकार के आदर्श सामने रखता है, अपने पुरखों के कामों को समान रूप से अपने आदर, गर्व और गौरव की बात मानता है, तब संस्कृति का जन्म होता है।"[1]

उपर्युक्त पहली परिभाषा में 'हम जीवन के लिए साक्षात उपयोगी न होते हुए' पर विचार करेंगे। जब मनुष्य आदिम अवस्था में था, तब संस्कृतिविहीन था। मगर जब उसका विकास होता गया तो उसमें भाषा, कला-कौशल, साहित्य, रचनात्मकता, सृजनात्मकता आदि से सुधार होता गया। जैसे-जैसे समुदायों एवं समाज का निर्माण हुआ वैसे ही उसके नियम, रीति-रिवाज, परंपराएँ, कायदे-कानून आदि आंतर संबंध चल पड़े। अतः कहा जा सकता है कि संस्कृति विचारों की दुनिया है। पूजा, धर्म, दर्शन, राष्ट्र, सामाजिक ऐक्य उसकी मंजिलें हैं।

'डॉ. देवराज' जी की परिभाषा पर विचार करते हुए हम कह सकते हैं कि मनुष्य के कार्य-कलाप सिर्फ अपने आप को जीवित रखने तक सीमित नहीं है। इसे हम एक उदाहरण द्वारा समझें, कि हमें तन को ढँकने के लिए वस्त्रों की आवश्यकता होती है। हर प्रदेश में अलग-अपग ढाँचों एवं फॅशन के कपड़े बनाएँ जाते हैं। मनुष्य की यह सुंदरता की चाह संस्कृति को जन्म देती है। इसी तरह वो अपने समाज को अधिकाधिक विकसित बनाने के उद्देश्य से साहित्य, रचनात्मक कार्यो, विविध कलाओं (ललित, हस्त, शिल्प, अभिनय) का सहारा लेता है। यही बातें संस्कृति को बनाती और बढ़ाती है। डॉ. देवराज जी की परिभाषा से और एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संस्कृति में वे ही बातें, परंपराएँ एवं कार्य आऐंगे जो व्यक्ति व समाज के लिए विधायक साबित होंगे।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि संस्कृति के तीन प्रमुख नियामक तत्त्व हैं। वह है, सौंदर्यबोध, नीतिबोध और आध्यात्मिक बोध। इस तरह देखा जा सकता है कि संस्कृति समाज का उपादान भी है और उपजीव्य भी। साहित्य और संस्कृति का संबंध दो रूपों में बताया जाता है। साहित्य संस्कृति का अंग भी है और उसके स्वरूप निर्माण में सहायक भी।

---

1. डॉ. भगवतशरण उपाध्याय, भारत की संस्कृति की कहानी, (दिल्ली, राजपाल प्रकाशन, प्र. सं. 2003), पृ.03.

5.1.2 व्याप्ति :

संस्कृति एक व्यक्ति के छोटे-से-छोटे कार्यकलापों से लेकर समाज-समुदाय के हर कार्य में व्याप्त रहती है। वह मनुष्य के अभिव्यक्ति से संबंधित है। वह किसी एक क्षेत्र तक सीमित नहीं है। जहाँ तक मानव का दायरा है, वहाँ संस्कृति अनिवार्य रूप से उपस्थित होती है। संस्कृति निर्माण का श्रेय मानव को जाता है। वह मानव जीवन को समृद्ध एवं परिष्कृत बनाती है। काल की दृष्टि से देखे तो संस्कृति उतनी ही पुरानी है जितनी सभ्यता क्योंकि किसी न किसी रूप में विचारों का झटका लगता ही रहता है। आज का मनुष्य अनेक क्षेत्रों में कार्य कर रहा है। अतः वह उन क्षेत्रों से उपयोगिता के साधनों का निर्माण करता है। इस कार्य में उसकी दृष्टि सिर्फ जरूरत पूरी करने तक मर्यादित नहीं है; बल्कि उन साधनों, प्रतीकों से वह आनंद, शांति, सुख-समाधान की भी छाह रखता है। इसी से उन कार्यों में संस्कृति परिव्याप्त रहती है।

संस्कृति की व्याप्ति को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है, कि उनमें किन-किन बातों का समावेश होता है। संस्कृति में निम्न बातों का समावेश होता हैं।[1]

1. संस्कृति सदैव व्यक्ति द्वारा अर्जित होती है।
2. वह व्यक्तियों-समाज के घटकों के बीच, उन्हीं के लिए तथा उन्हीं के द्वारा निर्मित स्थायी तथा विकास की दिशा में निर्मित गतिशील व्यवस्था है।
3. संस्कृति की गतिशीलता में अनुपयोगी तत्त्वों की अस्वीकृति और उपयोगी तत्त्वों का ग्रहण दोनों साथ-साथ चलते हैं, किंतु यह परिवर्तन धीरे-धीरे और क्रमशः ही होता है।
4. यह एक सामाजिक परंपरा है जो व्यक्ति को अनंतकालिन जीवन से संबंधित करती है।

---

1. डॉ. भक्तराज शास्त्री, आधुनिक हिंदी काव्य और संस्कृति, (इलाहाबाद, अमन प्रकाशन, प्र. सं. 1996), पृ. 95.

इस तरह से हम देख सकते हैं, कि संस्कृति का सबंध जीवन के हर उस क्षेत्र तक है जो मानव समाज से संबंधित है। मानव विकास की हर प्रक्रिया में, मानवीय सभ्यता में संस्कृति परिव्याप्त रहती है। धर्म मानव का सबसे बड़ा अंग माना जाता है। धर्म और संस्कृति परस्पर-पूरक हैं। धर्म को आचरण में लाने का काम संस्कृति द्वारा किया जाता है। इस तरह अलग-अलग धर्मों की आचरण-प्रणालियाँ संस्कृति निर्माण करती है। इस तरह विज्ञान, शिक्षा, साहित्य, रचनात्मक कार्य आदि क्षेत्र में संस्कृति उपस्थित रहती है। बल्कि इन्हीं के माध्यम से संस्कृति दृश्य रूप में साकार होती है।

5.2 संस्कृति का महत्त्व :

संस्कृति विश्वव्यापी है। इसका निर्माण ही समाज द्वारा होता है। जो अपने आप को परिष्कृत, समृद्ध बनाने की गतिशील व्यवस्था है। अतः संस्कृति से मानव समाज का कोई कोना अछूता नहीं है। इस दृष्टि से निम्नलिखित रूप में संस्कृति के महत्त्व एवं आवश्यकता को रेखांकित किया जा सकता है -

1. संस्कृति मानव समाज का प्राणतत्त्व है। इससे मानव सृष्टि का सुयोग्य परिचालन संभव हो पाता है।
2. संस्कृति जीवनमूल्यों के संस्कार की पद्धति है, जिससे व्यक्ति का आत्मिक और भौतिक विकास संभव हो पाता है।
3. व्यक्ति समाजशील प्राणी है। उसका अस्तित्व समाज से है। अतः समाज-समुदाय को एक ढोर में बाँधकर, प्रवाहमान बनाये रखने में संस्कृति महत्त्वपूर्ण है, आवश्यक है।
4. संस्कृति सिर्फ सामाजिक प्रथा, परम्पराओं का ही नाम नहीं है, बल्कि उन्हें समयानुरूप योग्य-अयोग्य की दृष्टि से युगीन परिसंदर्भ में प्रस्थापित करने की एक व्यवस्था है।
5. आज विश्व की सबसे बड़ी आवश्यकता है - सामाजिक सौहार्द और विश्वप्रेम। इन तत्त्वों की स्थापना संस्कृति के सही अनुशीलन द्वारा ही संभव है।

6. हर समुदाय एवं देश की अपनी-अपनी संस्कृति रहती है। अतः राष्ट्रीय एकात्मता की भावना का पोषण संस्कृति से ही होता है।

7. संस्कृति के द्वारा ही व्यक्ति को उसकी आत्मचेतना से रू-ब-रू किया जाता है। व्यक्ति को उसकी मर्यादित एवं संकुचित भावना से उपर उठाकर विश्वचेतना से जोड़ने का काम संस्कृति के सहयोग से ही संभव है।

8. हालाँकि मानव को प्राणी कहा जाता है। मगर वह अपनी अर्थ चिंतन, सृजनात्मकता इ. विशेषताओं के कारण अन्य पशु-प्राणियों की अपेक्षा अपनी अलग पहचान और सत्ता स्थापित कर सका है। उपर्युक्त क्रियाएँ संस्कृति का ही सुफल है।

9. आज का मनुष्य आत्मचेतना से दूर, संवेदनाहीन और संकुचित स्वार्थ में लिप्त पड़ा है। इस के फलस्वरूप उसे महायुद्ध, भ्रष्टाचार, दंगे-फसाद, बलात्कार जैसी त्रासद स्थितियों से गुजरना पड़ रहा है। ऐसे समय धर्म के सच्चे रूप को संस्कृति के माध्यम से आचरण में लाकर समाज कल्याण संभव है।

10. विश्व की हर जाति को उच्च-निचता की भावना से ऊपर उठाना, उसमें स्वयं के प्रति आत्मविश्वास जागृत कराना, साथ ही हर समुदाय, समाज में समन्वय के भाव को लाना इ. कार्य को संस्कृति के द्वारा ही अंजाम दिया जा सकता है।

इस प्रकार हम देख सकते है, कि जिस तरह सूर्यप्रकाश से जगत् का कार्य व्यापार संभव हो पाता है, उसी तरह संस्कृति मानव के अस्तित्त्व का सर्वप्रथम एवं प्रमुख आधार है। संस्कृति विहीन मानव, मानव न रहकर पशु की श्रेणी में जा पडेगा। पिछले अध्याय में हमने देखा कि व्यक्ति के सर्वांगिण विकास में जीवनमूल्य कितने महत्त्वपूर्ण होते है। अतः उन जीवनमूल्यों अथवा गुणसमुच्चयों को व्यक्ति के जीवन में प्रत्यक्ष उतारने की क्रिया-व्यवस्था संस्कृति है। इसलिए संस्कृति विश्व के हर एक व्यक्ति के लिए प्राणों के समान महत्त्वपूर्ण है।

5.3 विवेकानन्द उपन्यास में संस्कृति दर्शन :

प्रस्तुत उपन्यास के नायक स्वामी विवेकानन्द है। जिन्होंने धर्म के साथ सांस्कृतिक क्षेत्र पर भी गहरा प्रभाव डाला। इसलिए प्रस्तुत उपन्यास में भारतीय एवं पाश्चात्त्य संस्कृति के दर्शन होते है। विवेकानन्द ने एक धर्मोपदेशक यायावर के रूप में अपना संपूर्ण जीवन मानव सेवा में बिताया। उन्होंने जिन-जिन स्थानों की यात्रा की उन जगहों की संस्कृति का चित्रण पर्याप्त मात्रा में डॉ. भटनागर जी ने अपने उपन्यास में किया है। हम प्रस्तुत उपन्यास में चित्रित संस्कृति को भारतीय और विदेशी संस्कृति इन दो चरणों में विभाजित कर के देखेंगे।

5.3.1 भारतीय संस्कृति :

स्वामी विवेकानन्द ने अपना पूरा जीवन एक संन्यासी परिव्राजक के रूप में जिया। रामकृष्ण परमहंस से दीक्षा लेने के बाद संपूर्ण भारतवर्ष का भ्रमण किया। इन यात्राओं के दरम्यान समाज के हर वर्ग एवं जाति-धर्म के लोगों से उनका परिचय हुआ। इस यात्रा के अनेक प्रसंगों द्वारा हमें भारतीय संस्कृति के दर्शन होते है। साथ ही कई प्रसंगों में भारत की महिमामय संस्कृति का ऱ्हास करनेवाली बातें, परम्पराएँ, मान्यताएँ दिखाई देती है, जो भारत के पतन, गुलामी का कारण बनी हुई थी। इन सारी बातों को लेखक ने आज के युगीन संदर्भ में व्याख्यायित किया है।

उपन्यास की शुरूआत में रामकृष्ण परमहंस के शरीर त्यागने के बाद नरेंद्र समवेत उनके शिष्य अपने गुरू की आध्यात्मिक सोच को संसारभर में जन-जन तक पहुँचाने की प्रतिज्ञा लेते हैं। इस समय में अपने गुरूभाईयों को संबोधित करते हुए नरेंद्र कहता है,

"हम सब नवयुवक हैं, दिशा तलाश रहें हैं और हृदय में विश्व-कल्याण की अक्षय-भावना संजोयो हुए हैं। ..... आजीवन ब्रह्मचारी रह कर मानवहीत में अपना जीवन बिताऐंगे।"[1]

भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण पहलू है 'वसुधैवकुटुंबकम'। उपर्युक्त प्रसंग में इस भावना को देखा जा सकता है। भारतीय संस्कृति पर भाष्य करते हुए 'साने गुरूजी' लिखते हैं-

---

1. डॉ. राजेंद्रमोहन भटनागर, विवेकानन्द, (दिल्ली, राजपाल प्रकाशन, द्वितीय सं. 2007), पृ. 08.

"भारतीय संस्कृति का अर्थ है, सहानुभूति, विशालता। भारतीय संस्कृति का अर्थ है बिना स्थिर रहे ज्ञान का मार्ग ढूँढ़ते-ढूँढ़ते आगे बढ़ना। संसार में जो कुछ सुंदर व सत्य है, उसे प्राप्त करके बढ़ती जानेवाली यह संस्कृति है।"[1]

इस तरह हम देख सकते हैं कि भारतीय संस्कृति सारी मानव जाति में मेल पैदा करके उसे मंगल की ओर ले जानेवाली संस्कृति है। इसी का द्योतक और एक प्रसंग प्रस्तुत उपन्यास में मिलता है। 15 सितंबर, 1893 के धर्मसभा के भाषण में स्वामीजी मेंढक की कहानी सुनाते हैं। जिसमें मेंढक अपने कुएँ को समस्त विश्व मानते हुए खुद को उसका स्वामी बताता है। बाद में समुद्र के मेंढक द्वारा उसके अहंम् पर आघात होने पर वो समुद्री मेंढक को इर्ष्यावश बाहर निकलवाता है।[2] इस कहानी का तात्पर्य बताते हुए स्वामीजी कहते हैं,

"अमर पुत्रो, ऐसी संकीर्णता हम लोगों की विभिन्नता के कारण है। मैं हिंदू हूँ तो अपने छोटे-से कुएँ में बैठा यह समझता हूँ कि मेरा कुआँ समस्त संसार है। इसी तरह ईसाई, मुस्लिम, बौद्ध आदि धर्म के लोग अपने-अपने सीमित कुएँ को समुचा ब्रह्मांड मान रहे हैं।"[3]

प्रस्तुत प्रस्तुत उद्धरण से हमें भारतीय संस्कृति के विशाल हृदयभाव के दर्शन होते हैं। भारतीय संस्कृति विश्व के सारे जीवों में समदर्शन की सीख देती है। आज विश्व के हर व्यक्ति में अपने-अपने देश के महान बातों के साथ दूसरे सारे देशों की अच्छी बातों के लिए सम्मान एवं समदर्शन के वृत्ति की जरूरत है।

भारतीय संस्कृति का एक और महत्त्वपूर्ण पहलू है, त्याग एवं समर्पण की भावना। विवेकानन्द मानवजाति के उद्धार के लिए दृढ़संकल्प होकर मानव सेवा को अपना जीवन धर्म-कर्म बना लेते हैं। उनके इस त्याग की भावना से प्रभावित हो उनकी माँ भुवनेश्वर देवी उन्हें परिवार त्यागनें की आज्ञा हँसी-खुशी दे देती हैं।

भारत में सदियों से कई मजहब, जाति, संप्रदाय, वर्ण के लोग अपना जीवनयापन करते आ रहे हैं। आज भी भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में जाना जाता है। प्रस्तुत उपन्यास में अलवर के एक प्रसंग में स्वामीजी का मुसलमान मौलवी से निवेदन भारत की

---

1. साने गुरूजी, भारतीय संस्कृति, (नई दिल्ली, सस्ता साहित्य प्रकाशन, प्र. सं. 2006), पृ. 05.
2. डॉ. राजेंद्रमोहन भटनागर, विवेकानन्द, (दिल्ली, राजपाल प्रकाशन, द्वितीय सं. 2007), पृ. 201.
3. वही, पृ. 232.

धर्मनिरपेक्ष वृत्ती को उजागर करता है,

"ध्यान रहे मौलवी साहब, ऐसे शागीर्द पैदा करो जिनके दिमाग में मजबह, कौम की तंगदिली न हो। वे किसी मजहब की बेइज्जती न करें। ... सब मजहब मानुष को नेक रास्ते पर ले जाने के लिए हैं। सब में भाईचारा, प्यार, मुहब्बत, एकता का जज्बा बनाए रखने के लिए हैं।"[1]

आज की आतंकवाद, भ्रष्टाचार और धार्मिक आडंबर को प्राप्त होती स्थितियों में लेखक ने मानव मात्र को भारतीय संस्कृति की असली पहचान से जोड़ने का प्रयास किया है। आज सभी धर्मों, संप्रदाय, पंथ में कुछ स्वार्थी लोग अपने-अपने तुच्छ स्वार्थ के लिए धर्म को मानते हैं, लेकिन धर्म की बात को, संदेश को कोई नहीं जानना चाहता।

आध्यात्मिकता, ईश्वरोपासना भारतीय संस्कृति का एक अनिवार्य अंग है। मठ, मंदिर, गिरिजाघर, मस्जिद, मूर्तिपूजा, अर्चना आदि व्यवस्थाएँ उसी से निर्मित हैं। इन सब के प्रयोजन में विश्वकल्याण, मानव जीवन के मूल उद्देश्य की खोज, स्व-स्वरूप की पहचान आदि महत्त्वपूर्ण बातें आती हैं। मगर जब असल बात अस्पष्ट होकर कर्मकांड, धार्मिक दिखावा, अंधश्रद्धाएँ बढ़ जाती हैं, तो मानव जीवन का प्रवाह रूक-सा जाता है। इससे मानव के सर्वांगिण विकास में रूकावट आती है। इसको ध्यान में रखते हुए भटनागर जी ने भारतीय संस्कृति में मंदिर, चर्च, मूर्तिपूजा, साधना पद्धति आदि प्रतिक माध्यमों के सही अर्थस्वरूप को प्रस्तुत उपन्यास द्वारा प्रकट किया है।

प्रस्तुत उपन्यास में स्वामीजी अलवर के राजदरबार में मूर्तिपूजा के सही प्रयोजन के बारे में बताते हुए कहते हैं, -

"भक्तों, मुर्ति चाहें पत्थर की हो या काष्ठ की अथवा धातु की, वह उनके प्रभु का ही प्रतिबिंब है। .... उनके लिए वह मुर्ति साक्षात उनका इष्ट है। इससे भक्मतों को अपने इष्मट का स्मरण होता है, उसकी महानता याद आने लगती है। वह उनकी ध्यान धारणा में भी सहायक होती है।"[2]

---

1. डॉ. राजेंद्रमोहन भटनागर, विवेकानन्द, (दिल्ली, राजपाल प्रकाशन, द्वितीय सं. 2007), पृ. 36.
2. वही, पृ. 41.

इसी प्रकार शिकागो की यात्रा में जहाज की सहयात्री अन्ना को भारतीय संस्कृति में मठ-मंदिर, गिरिजाघरों का स्थान एवं महत्त्व विशद करते हुए विवेकानन्द कहते हैं :-

"मठ, मंदिर, चर्च आदि मेरी जिज्ञासा के केंद्र हैं। उससे वहाँ के लोगों की आस्था, शील, सौंदर्य और जीवन के प्रति दृष्टिकोण का ज्ञान होता है। मनुष्य-मनुष्य के संबंधों की तलाश होती हैं। ..... प्रभु की सृष्टी से साक्षात्कार करने का आनंद मिलता है।"[1]

आज के आधुनिक युग में धार्मिक आडंबरों का कोलाहल मचा हुआ है। धार्मिक स्थानों को बाजारवाद की प्रवृत्तियों ने घेर रखा हैं। जिन महात्माओं, युगपुरुषों ने मानवमात्र के कल्याण एवं उद्‌बोधन में अपना जीवन समर्पित किया, उन्हीं को स्वार्थांध लोगों ने मठ-मंदिरों के सीमित दायरे में बंद कर जनता को गुमराह करने का व्यापार शुरू किया है। अतः इस भयावह स्थिति से निजात पाने के लिए हर युग में मानवीय शक्तियाँ अलग-अलग स्त्रोंतों के सहारे उपायों का परिचालन करती आ रही हैं। साहित्य इसका एक प्रमुख स्त्रोत है। डॉ. भटनागर जी ने विवेकानन्द के चरित्र-चित्रणद्‌वारा भारतीय संस्कृति के इष्ट रूप को सामने लाने के लिए लेखनी उठाई हैं।

भारतीय संस्कृति की महत्त्वपूर्ण विशेषता है, समन्वयात्मक दृष्टि। विवेकानंद एक धर्मसमन्वयक के रूप में जाने जाते हैं। वतन रिसाला में छपा उनका कथन भारत की समन्वयात्मक दृष्टि का परिचायक है,

"वेदांत सिद्‌धांत चाहे जितने सूक्ष्म तथा विलक्षण क्यो न हों, व्यावहारिक इस्लाम के सहायता के बिना अधिकांश जन समुदाय के लिए वह पूरी तरह व्यर्थ हैं। .... हमारी मातृभूमि के लिए हिंदुत्व और इस्लाम इन दोनों का वेदांती दिमाग और इस्लामी देह का समन्वय ही एकमात्र आशा की किरण है।"[2]

'विवेकानन्द' उपन्यास भारतीय संस्कृति की अच्छी बातों के साथ कुछ ऐसे पहलुओं को भी उजागर करता है, जो भारत दुर्दशा एवं पिछड़ेपन के लिए जिम्मेदार है।

---

1. डॉ. राजेंद्रमोहन भटनागर, विवेकानन्द, (दिल्ली, राजपाल प्रकाशन, द्‌वितीय सं. 2007), पृ. 155.
2. वही, पृ. 250

खेतडी नरेश राजा अजितसिंह के महल में उच्चाधिकारीयों को संबोधित करते हुए स्वामीजी का निम्न कथन देखिए,

"काफी समय से तुम लोग निम्न जाति वालों से घृणा करते आ रहे हो। उसी के परिणामस्वरूप तुम लोग संसार में घृणा के कारण बन गए हो।"[1]

प्रस्तुत उपन्यास में भारतीय समाज में महिलाओं के दोय्यम दर्जे को लेकर उठाया गया प्रसंग मार्मिक है। खेतडी के राजदरबार में स्वामीजी से अपने उद्धार की गुहार लगाते हुए नृत्यांगना मालविका कहती है,

"कब तक द्रौपदी को कृष्ण पुनर्जन्म का इंतजार करना होगा? कब तक अहिल्या को पत्थर की मूर्ति बने रहकर श्रीराम की प्रतिक्षा करनी होगी? जबकि द्रौपदी राजवधु थी और अहिल्या ऋषी पत्नी। ... हम जैसियों का तब भी किसी ने उद्धार नहीं किया जब स्वयं भगवान ने अवतार लिया था।"[2]

अत: कहा जा सकता है, कि कुछ स्वार्थी एवं कपटी-धूर्त लोगों ने कुछ ऐसी बातों को संस्कृति में घुसाया जिससे समाज में उच-निच, गरीब-अमिर का दायरा बढ़ता गया।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं, कि भारतीय संस्कृति महानतम् गुणों से अलंकृत है। मगर उसे आचरण से दूर करने से भारतीय समाज व्यवस्था सोचनीय हो चुकी है। वर्षों की गुलामी ने लोगों के मनों को सभ्यता, संस्कृति से दूर किया है। देश में धर्म लोगों को डराने का काम करने लगा है। गंगा भी देश में नवजागरण की बाँट जोह रही है।[3]

भारतीय सभ्यता-संस्कृति पर विदेशी रंग चढ़ने लगा है। मगर भारतीय संस्कृति में कुछ ऐसी व्यवस्थाएँ है, जिसके सहीं संचालन से भारत अपनी अतित की गौरवमयी प्रतिमा को पुन: प्राप्त कर सकता है। भारतीय संस्कृति सदैव दूसरी संस्कृतियों से प्रभावित जरूर होती दिखाई देती है, मगर कभी पराजित नहीं हुई। यही भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता उसे समृद्ध और गतिशील बनाए रखने में मदद करेगी।

---

1. डॉ. राजेंद्रमोहन भटनागर, विवेकानन्द, (दिल्ली, राजपाल प्रकाशन, द्वितीय सं. 2007), पृ. 72.
2. वही, पृ. 76.
3. वही, पृ. 15.

5.3.2 विदेशी संस्कृति :

'विवेकानन्द' उपन्यास में भारत के साथ-साथ चीन, जापान और अमरिका इन देशों की संस्कृति का भी अल्प परिचय मिलता है।

हांगकांग चिनियों का अति व्यस्त शहर है। वहाँ पर धार्मिक कट्टरता व्याप्त है। उनके मंदिरों में विदेशियों का जाना वर्जित है।[1] उनमें आक्रमकता है। गरीबी, भूखमरी से जनता अभावग्रस्त है। इसी स्थिति पर अपने सहयात्री आन्दें से बात करते हुए स्वामीजी कहते हैं -

"गरीबों की संस्कृति भूख है। उनके लिए स्वतंत्रता एवं परतंत्रता में कोई अंतर नहीं है। गरीबी चेतना के अभाव के कारण है। कर्म की निष्क्रियता के कारण।"[2]

जहाज यात्रा के पड़ाव में स्वामीजी जापान में घुमते हैं। उन्हें जापान भारत एवं चीन से विपरीत लगा। वहाँ लोगों में देशप्रेम की अटूट भावना है। स्वामीजी का वहाँ के पुजारी से संवाद धर्म के व्यावहारिक रूप को प्रकट करता है। जो निम्नलिखित है ,

: "शिल्प उद्योग से आपके चित्त पर प्रभाव?"

: "उत्तम। श्रेष्ठ। उद्योग कर्म शिल्प के उदात्त उदाहरण।"

: "कोई असुविधा?"

: "कैसी असुविधा?"

: "माया के उत्सव-संयोजन। भारी मशीनें। देहवाद। संसार की मोह, आसक्तियों का विराट् प्रदर्शन।"

: "कर्मोत्सव, संन्यासी। जीने की नवीन शैली। शांतिमय शिल्पोद्यान। स्व-उन्नती की भरपुर दृष्टि।"

: "परंतु बौद्ध धर्म तो ...।"

: "धर्म कर्तव्य है, संन्यासी। यहाँ के लोगों से बात करके देखो। सब में आत्मबोध, गहरी निष्ठा, जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण, मिलेगा। भूकंप झेलता जापान स्वस्थ, स्वच्छ और उच्च मनोबल का स्वामी है।"[3]

---

1. डॉ. राजेंद्रमोहन भटनागर, विवेकानन्द, (दिल्ली, राजपाल प्रकाशन, द्वितीय सं. 2007), पृ. 151.
2. वही, पृ. 148.
3. वही, पृ. 162.

इससे स्पष्टत: कहा जा सकता है, कि जापान कर्मप्रधान संस्कृति को अपनाएँ हुए है। जापानी लोग कर्मठ, तथा अनुशासित हैं। प्रत्येक कार्य के लिए उनमें अदम्य उत्साह और साहस है। वे सभी स्वावलंबी तथा शिल्पकला में दक्ष हैं।

जहाज यात्रा के अंतिम पड़ाव में स्वामीजी अमरिका पहुँचते हैं। वहाँ उन्हें देहवादी संस्कृति के दर्शन होते हैं। भौतिक सुविधाओं से सराबोर अमरिका के लोगों में आध्यात्मिक विचारों की भूख हैं।[1] बहुत से लोगों में स्वामीजी को सच्ची श्रद्धा के दर्शन होते हैं। अमरिकावासी कर्मठ हैं, खुब मन लगाकर काम करते हैं, फिर उस धन को दोनों हाथों से लूटाकर आनंद लेने में भी चूँकते नहीं हैं।

अमरिकावासी सृजनात्मक पक्ष को बड़ी तन्मयता से उभारने में लगे हैं। शिल्पकला के प्रति उनमें अतिव आकर्षण है। भारतीय कर्म सिद्धांत अमेरिकामें भी आचरण में लाया जाता हैं, इसका स्वामीजी ने अनुभव किया। इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास में भारतीय तथा चीन, जापान, अमरिका की संस्कृति के दर्शन मिलते हैं।

निष्कर्ष :

जैसे कि हमने संस्कृति के स्वरूप एवं व्याप्ति में देखा कि साहित्य संस्कृति का एक अंग है। साथ ही साहित्य के द्वारा संस्कृति को जीवित रखने का काम होता है। साहित्य द्वारा अतित की संस्कृति को युगीन परिवेश में पुनर्स्थापित करके समाज को दिशा देने का प्रयास संभव हो जाता है। इस प्रयास के चलते अतिकालीन गौरव और महापुरुषों के जीवन संदेश को समाज के सम्मुख लाने का काम साहत्य करता आ रहा है।

संस्कृति मानव जीवन को कल की अपेक्षा आज और आज की अपेक्षा आनेवाले कल में सर्वांगिण रूप से उँचा उठाने के संस्कार का नाम है। संस्कृति एक विचारप्रवाह है। इस विचारों का संस्कार मानव मन पर करने के लिए समाज अपने आप में दृश्य बातों एवं वैचारिक पद्धतियों का निर्माण करता है। उनका सहारा लेता है। विश्व की विविध संस्कृतियों में जो नियम, परंपराएँ, साधना-उपासना पद्धतियाँ, मठ-मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर, धार्मिक, अध्यात्मिक, सामाजिक एवं कलात्मक संस्थाएँ आदि का निर्माण हुआ हैं, उनके पिछे मानव को उन्नत दिशा की ओर अग्रसर करना ही प्रमुख उद्देश्य है। संस्कृति का सही अर्थ है, सर्वांगिण विकास, सबका विकास।

1. डॉ. राजेंद्रमोहन भटनागर, विवेकानन्द, (दिल्ली, राजपाल प्रकाशन, द्वितीय सं. 2007), पृ. 175.

उपर्लिखित संस्कृति के संस्कार के जो प्रतिक माध्यम एवं व्यवस्थाएँ है, वो अलग-अलग संस्कृतियों में अलग-अलग हैं। उनमें कालानुसार परिवर्तन की आवश्यकता रहती है। अतः संस्कृति हर चीज को संस्कारित कर परिष्कृत रूप में समाज के सामने लाने का ही पर्याय है। मगर कुछ लोग स्वार्थ एवं अज्ञानवश उन प्रतिक माध्यमों का गलत ढंग से प्रचार-प्रसार करते हैं। इसी से पिछले कुछ शतकों से मानवीय संस्कृति में कुछ विघातक बातें घटित हो रहीं हैं, जिससे विश्व में अनेक समस्याएँ निर्माण हुई हैं। इन्सान बाहरी कर्मकांडों में अधिक लिप्त हुआ है और सत्य को जानने से परहेज करता नजर आ रहा है। आज का मनुष्य आत्मकेंद्रित होकर दिखावें का जीवन जी रहा है और अपनी मनुष्यता को दिन-प्रतिदिन घटता जा रहा है। समाज के इस धार्मिक अवडंबर की स्थिति पर प्रहार करते हुए 'सुमित्रानंदन पंत' अपनी 'ताज' कविता में लिखते हैं -

"हाय! मृत्यू का ऐसा, अमर अपार्थिक पूजन?
जब विषण्ण, निर्जिव पड़ा हो जग का जीवन।
संग-सौंध में हो श्रृंगार-मरण का शोभन,
नग्न, क्षुधातुर, वास-विहीन रहें जीवित जन।
भूल गये हम जीवन का संदेश अनश्वर,
मृतकों के है मृतक जीवितों का है ईश्वर।"

हमारी भारतीय संस्कृति जो हमेशा से सारे विश्व के आकर्षण का केंद्र रही है, उसमें स्वार्थी, एवं धर्मांध लोगों ने सीमित वर्ग के फायदे के लिए भेदाभेद, अस्पृश्यता, उच्चनिच्यता, धार्मिक अंधश्रद्धाओं का समावेश किया। इससे उसका प्रवाह अवरूद्ध होने लगा है। हम भारतीयों को उसके प्रवाह को पुनः शुद्ध, पवित्र एवं सर्वहीत की दिशा में प्रवाहीत करना होगा। यह संस्कृति सबको एक धागे में बाँधनेवाली है। इससे त्याग, संयम, वैराग्य, सेवा, प्रेम, ज्ञान, विवेक आदि बाते हमें याद आती हैं। इन्हीं बातों को हमें अपने आचरण में लाना होगा, तभी वह पुनः अतितकालीन महिमा को प्राप्त होगी।

उपर्युक्त उद्देश्य से प्रेरित होकर डॉ. भटनागर जी ने भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता, अहिंसा, भक्तितत्त्व, समर्पण, समन्वय, एकात्म भावना, सेवाभावना आदि विशेषताओं को पुनर्स्थापित कराने का सफल एवं भरकस प्रयास 'विवेकानन्द' उपन्यास द्वारा किया है।